क्या सत्ता के सामने भारतीय मीडिया रेंगने लगा है ?

पुण्य प्रसून बाजपेयी

संपादकों का काम सत्ता के प्रचार के अनुकूल कंटेट को बनाए रखने का है और हालात ऐसे हैं कि सत्तानुकूल प्रचार की एक होड़ मची हुई है. धीरे-धीरे हालात ये भी हो चले हैं कि विज्ञापन से ज़्यादा तारीफ़ न्यूज़ रिपोर्ट में दिखाई दे जाती है.

क्या वाकई भारतीय मीडिया को झुकने को कहा गया तो वह रेंगने लगा है? क्या वाकई भारतीय मीडिया की कीमत महज़ 30 से 35 हज़ार करोड़ की कमाई से जुड़ी है? क्या वाकई मीडिया पर नकेल कसने के लिए बिज़नेस करो या धंधा बंद कर दो, वाले हालात आ चुके हैं?

जो भी हो पर इन सवालों के जवाब खोजने से पहले आपको लौट चलना होगा चार बरस पहले. जब जनादेश लोकतंत्र की परिभाषा को ही बदलने वाले एक शख्स के हाथ में दे दिया गया. यानी इससे पहले लोकतंत्र पटरी से उतरे, जनादेश इस दिशा में बढ़ गया.

याद कीजिये इमरजेंसी. याद कीजिये बोफोर्स. याद कीजिए मंडल-कमंडल की सियासत. हिंदुत्व की प्रयोगशाला में बाबरी मस्जिद विध्वंस. हालांकि 2014 इसके उलट था क्योंकि इससे पहले तमाम दौर में मुद्दे थे लेकिन 2014 के जनादेश के पीछे कोई मुद्दा नहीं था बल्कि विकास की चकाचौंध का सपना और अतीत की हर बुरे हालातों को बेहतर बनाने का ऐसा दावा था जो कॉरपोरेट फंडिंग के कंधे पर सवार था.

जितना ख़र्च वर्ष 1996, 1998, 1999, 2004, 2009 के चुनाव में हुआ, उन सबको मिलाकर जितना होता है उससे ज़्यादा सिर्फ़ 2014 के चुनाव में हुआ. 30 अरब रुपये से ज़्यादा चुनाव आयोग का ख़र्च हुआ तो उससे ज़्यादा बीजेपी का. और वह भी सिर्फ़ एक शख्स को देश का ऐसा चेहरा बनाने के लिए जिसके सामने नेता ही नहीं बल्कि राजनीतिक दल भी छोटे पड़ जाएं.

हुआ भी यही, कांग्रेस या क्षत्रप ही नहीं खुद सत्ताधारी बीजेपी और बीजेपी की पेरेंट

आर्गनाइजेशन आरएसएस भी इस शख्स के सामने बौनी हो गई, क्योंकि जिस जनादेश ने नरेंद्र मोदी को प्रधानमंत्री की कुर्सी पर बैठाया उसमें न सिर्फ विरोधी कांग्रेस के पारंपरिक वोट थे बल्कि दलित-मुस्लिम और ओबीसी वोट भी शामिल थे.

यानी 1977 के बाद पहला मौका था जब हर तबका-समुदाय-संप्रदाय ने वोट बैंक होने की लकीर मिटाई. पहली बार जनता की उम्मीद भी कुलाचें मार रही और मोदी सरकार के ऐलान दर ऐलान भी उड़ान भर रहे थे.

कालाधन वापस लाने के लिए एसआईटी बनी. दागदार सांसदों के खिलाफ़ सुप्रीम कोर्ट जल्द कार्रवाई करेगा, यह चुनी हुई सरकार ने दावा किया. 'न खाऊंगा और न खाने दूंगा' का नारा ऐसे लगाया गया जैसे क्रोनी कैपटलिज़्म और सियासी गलियारे में दलाली ख़त्म हो जाएगी.

छात्र-किसान-मज़दूर-महिला समेत हर तबके को राहत और सुविधाओं की पोटली खोलने से लेकर हाशिये पर पड़े समाज की बेहतरी की बात. ये सब सरकार के अलग-अलग मंत्री नहीं बल्कि एकमात्र सुपर मंत्री यानी प्रधानमंत्री ही बार-बार कहते रहे. उन्होंने कहा कि वह 'प्रधानमंत्री' नहीं बल्कि 'प्रधानसेवक' हैं. जादू चलता रहा और इसी जादू को दिखाने में वह मीडिया भी गुम हो गया जिस मीडिया की आंखें खुली रहनी चाहिए थी.

तो देश की तस्वीर चार बरस तक यही रही. प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी बोलते रहे. मीडिया दिखाती रही. दर्शक देखते रहे. सबकुछ जादुई रहा. शुरुआती तीन बरस तक मोदी का जादू न्यूज़ चैनलों की स्क्रिन पर छाया रहा पर चौथे बरस में क़दम रखते रखते मोदी सरकार का जादू उतरने लगा और मोदी पॉलिसी कमज़ोर दिखाई देने लगी.

चार बरस में 106 योजनाओ का ऐलान सिर्फ़ सत्ता के ज़रिये उपलब्धियों के आंकड़ों में खोने लगा. जैसे बेरोज़गारी है पर सरकार ने कहा मुद्रा योजना से 70 लाख रोज़गार एक बरस में मिले. स्टार्ट अप से दो करोड़ युवाओं को लाभ हुआ. स्किल इंडिया से डेढ़ करोड़ छात्रों को लाभ हुआ. हालांकि ज़मीनी सच हर योजना को लेकर इतना कमज़ोर था कि ग्राउंड ज़ीरो से रिपोर्टिंग करते वक्त सरकारी योजनाओं के सरकारी लाभार्थी ही बताने लगे कि उन्हें कोई लाभ नहीं हुआ.

इसी कड़ी में सर्जिकल स्ट्राइक, नोटबंदी और जीएसटी भी बूमरैंग कर गया. तो सरकार ने चाहा उसकी उपलब्धियों का ही बखान न्यूज़ चैनल करें, उन्होंने किया और उसी के साथ तीन सच भी सामने आ गए.

पहला, मीडिया कैसे किसी बिज़नेस से ज़्यादा नहीं है. दूसरा, बिज़नेस में मुनाफ़ा होगा या नहीं इसे सत्ता ने अपने क़ब्ज़े में ले लिया. तीसरा, जिसने हिम्मत दिखाई उसे ऐलानिया दबा दिया गया.

यानी मैसेज साफ़ था. लोग सच जानना/देखना चाहते हैं और अगर इससे टीआरपी भी बढ़ रही है तो फिर विज्ञापन से कमाई भी बढ़ेगी. सरकार की नीतियों को लेकर ग्राउंड रिपोर्टिंग से अगर टीआरपी बढ़ती है तो फिर ये मोदी सरकार ही नहीं बल्कि सत्ताधारी पार्टी के लिए ख़तरे की घंटी है क्योंकि आम चुनाव में सिर्फ़ 8 महीने बचे हैं.

ऐसे मौके पर मीडिया अगर सत्तानुकूल न रहकर ग्राउंड रिपोर्टिंग करने लगे तो मुश्किल होगी क्योंकि दांव पर प्रधानमंत्री का चेहरा ही है. न्यूज़ चैनल ख़ुद को बिज़नेस करता हुआ ही माने इसकी बिसात सिर्फ़ कॉरपोरेट या कंपनियों के विज्ञापन पर नहीं टिके बल्कि राजनीतिक प्रचार का बजट इतना ज़्यादा हो गया कि हर कोई मुनाफ़े में ही खो गया.

एक तरफ भारत में क़रीब 2,000 करोड़ रुपये के विज्ञापन का बिज़नेस राष्ट्रीय न्यूज़ चैनलों के लिए हैं और टॉप पांच न्यूज़ चैनलों की कमाई ही 15,00 करोड़ की हो जाती है. जिसमें नंबर एक और दो की कमाई करीब 900 करोड़ रुपये की होती है. दूसरी तरफ़ केंद्र सरकार से लेकर राज्यों के प्रचार का बजट मौजूदा वक्त में 30,000 करोड़ से ज़्यादा का हो चला है और लूट इसी बात की है या कहें राजनीतिक सौदेबाज़ी इसी की है.

यानी एक तरफ़ सत्ता के प्रचार से न जुड़े तो बिज़नेस चौपट होगा और सत्ता के साथ जुड़े तो ख़ूब मुनाफा होगा. ये नई तस्वीर सत्ता के प्रचार के लिए बढ़ते बजट की है, क्योंकि निजी कंपनियों के विज्ञापन के समानांतर सरकारी विज्ञापनों का चेहरा भी इस दौर में बदल दिया गया.

डीएवीपी के ज़रिये सरकारी विज्ञापन का बजट सिर्फ़ एक हज़ार करोड़ रुपये का है, लेकिन केंद्र समेत तमाम राज्यों की सरकारों ने अपने प्रचार का बजट 500 करोड़ से लेकर 5,000 करोड़ रुपये तक का कर लिया है. हालात ऐसे हो गए हैं कि न्यूज़ चैनल ही विज्ञापन बनाते हैं, उस विज्ञापन को न्यूज़ चैनल ही ख़ुद को बेचते हैं और ख़ुद न्यूज़ चैनलों की स्क्रीन पर सरकार के विज्ञापन चलते हैं. इसमें सबसे ज़्यादा बजट भारत के सबसे बड़े सूबे उत्तर प्रदेश का है, जो सालाना दो हज़ार करोड़ रुपये तक सिर्फ़ चैनलों को बंटता है.

फिलहाल देश के 29 में से 20 सूबों पर मोदी सरकार की पार्टी बीजेपी का ही क़ब्ज़ा है. और बीजेपी के हर चुनाव के केंद्र में प्रदानमंत्री मोदी का ही चेहरा रहता है तो फिर राज्यों के प्रचार के बजट को पाने के लिए प्रधानमंत्री मोदी का गुणगान ख़ासा मायने रखता है. बीजेपी के अनुकूल प्रचार करने का लाभ केंद्र सरकार के साथ-साथ राज्य सरकारों से भी मिलता है और इसे कोई खोना नहीं चाहता है.

यानी संपादकों का काम सत्ता के प्रचार के अनुकूल कंटेट को बनाए रखने का है और हालात ऐसे हैं कि सत्तानुकूल प्रचार की एक होड़ है. धीरे-धीरे हालात ये भी हो चले हैं कि विज्ञापन से ज़्यादा तारीफ़ न्यूज़ रिपोर्ट में दिखाई दे जाती है. यानी विज्ञापन बनाने वाला भी रिपोर्टर और सरकार के कामकाज पर रिपोर्टिंग करने वाला भी रिपोर्टर और दफ़्तर में ज़्यादा साख़ उसकी जो सरकार से ज़्यादा क़रीब नज़र आए.

अक्सर राज्यों के प्रचार को देखने वाले अलग-अलग राज्यों के अधिकारी जब किसी मीडिया चैनल या अख़बार के ज़रिये तैयार होने वाले विज्ञापन की क्लिप या पन्ने पर कंटेट को देखते है तो बरबस ये कह देते है, 'आपने जो तैयार किया है उससे ज़्यादा बेहतर तो अपने फलां रिपोर्टर ने फलां रिपोर्ट में दिखा दिया.'

तो विज्ञापन का नया चेहरा, बिना विज्ञापन भी कैसे मीडिया के ज़रिये प्रचार-प्रसार करता है ये अपने आप में अनूठा हो चला है. एक वक्त जब न्यूज़ चैनल सांप-बिच्छू, भूत-प्रेत में खोये थे तब न्यूज़ रूम में ये चर्चा होती थी कि आने वाले वक़्त में कैसे सामाजिक-आर्थिक मुद्दों पर रिपोर्ट लिख पाएंगे.

अब ये चर्चा आम हो चली है कि कैसे बिना तारीफ़ रिपोर्ट लिखी जाए इसीलिए आज़ादी के बाद पहली बार सुप्रीम कोर्ट के पूर्व चीफ जस्टिस टीएस ठाकुर जजों की नियुक्ति को लेकर प्रधानमंत्री के सामने सवाल उठाते हैं तो उनकी आंखों में आंसू आ जाते हैं, तब भी मीडिया को कोई खोट सिस्टम में नज़र नहीं आता.

फिर सुप्रीम कोर्ट के इतिहास में पहली बार चार न्यायाधीश सार्वजनिक तौर पर सुप्रीम कोर्ट के भीतर रोस्टर सिस्टम से होते हुए लोकतंत्र के लिए ख़तरे के संकेत देते हैं. फिर भी मीडिया इसे तस्वीर से ज़्यादा महत्वपूर्ण नहीं मानता.

ऐसे में जब सुप्रीम कोर्ट ही लोकपाल की नियुक्ति से लेकर भीड़तंत्र के न्याय तले अभ्यस्त बनाए जा रहे देश को चेताती है. सरकार-संसद को क़ानून का राज लागू कराने के लिए हरकत कहने को कहता है तो फिर किसी पर असर नहीं होता.

फिर सूचना आयोग के भीतर से आवाज़ आती है सत्ता सूचना के अधिकार को कुंद कर रही है. तब भी मीडिया के लिए ये ख़बर नहीं होती. सीबीआई के डायरेक्टर आलोक वर्मा ही सीबीआई के विशेष डायरेक्टर राकेश अस्थाना और उनकी टीम को कटघरे में खड़ा करते हैं. उसके पीछे सियासी मंशा के संकेत देते हैं पर सत्ता के आगोश में खोई मीडिया के लिए ये भी सवाल नहीं होता.

चुनाव आयोग गुजरात के चुनाव की तारीखों का ऐलान करें उससे पहले सत्ताधारी पार्टी के नेता तारीख बता देते हैं पर सिवाय हंसी-ठिठोली के बात आगे बढ़ती नहीं और जब हमला मुख्यधारा के ही एक मीडिया हाउस पर होता है तो मुख्यधारा के ही दूसरे मीडिया हाउस चुप्पी साध लेते हैं.

जैसे सच दिखाना अपराध है और वह अपराधी नहीं हैं. इसी का असर है कि पहली बार भारतीय न्यूज़ चैनल सरकारी नीतियों की ग्राउंड रिपोर्टिंग की जगह अलग-अलग मुद्दों पर चर्चा में ही चैनल चला रहे हैं. हालात यहां तक बिगड़े हैं कि हिंदी के टॉप चैनलों को सरकार की मॉनिटरिंग टीम की रिपोर्ट के आधार पर बताया जाता है कि वह किस मुद्दे पर चैनलों पर चर्चा करें.

जो सरकार के अनुकुल रहता है उसके लिए हर दरवाज़ा खुलता है. ख़ुद प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के चार बरस में कभी प्रेस कॉन्फ्रेंस नहीं की पर जो आठ इंटरव्यू दिए वह उन्हीं न्यूज़ चैनल या अख़बारों को जो काउंटर सवाल न करें. चार टीवी इंटरव्यू उन्हीं चार चैनलों को जो उनके प्रचार-प्रसार में लगा रहा. प्रिंट मीडिया के इंटरव्यू में भी सवाल-जवाब के अनुकूल बनाए गए, जिसमें इंटरव्यू लेने वाले पत्रकार का नाम नहीं था, अख़बारी की टीम का नाम था. आखिरी सच यही है कि प्रधानमंत्री जिस चैनल को इंटरव्यू दे रहे हैं उस चैनल के बिज़नेस में चार चांद लग जाते हैं और निजी मुनाफा होता है, जो राज्यसभा की सीट पाने से लेकर कुछ भी हो सकता है. वहीं दूसरी तरफ़ ये कोई भी देख नहीं पाता है कि दुनिया के सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश में लोकतंत्र ही सत्ता तले गिरवी हो चली है.

सम्पादक के नाम

कुछ दिन में ये नज़ारे आम होंगे

अचानक सड़क पे मारो मारो का शोर उभरता है, उधर नज़र जाती है तो दिखता है एक घायल आदमी जान बचाने के लिए सड़क पर दौड़ रहा है और उसके पीछे उन्मांदी भीड़ पड़ी है! लेकिन वो कब तक बच पाता, कुछ ही देर में भीड़ उसे पकड़कर पीट पीटकर मार डालती है और सड़क पर एक मुर्दा खामोशी छा जाती है!

पुलिस आती है, लाश का पंचनामा होता है और मौके पर लोगों के बयान के आधार पर पुलिस के रोजनामचा रजिस्टर में दर्ज होता है - मरने वाला अपराधी था, इसने "बाल समय रवि भक्ष लियो तब, तिन्हू लोक भयो अँधियारो" को मानने से इंकार किया और हनुमान जी का मजाक बनाया ! ये आदमी कानूनी तौर पर मुजरिम था और धर्म के रक्षार्थ भीड़ द्वारा मारा गया, लिहाजा किसी पर कोई अपराध की धारा नहीं लगायी जा सकती न कोई मुजरिम घोषित हो सकता है !

अभी तक हम ऐसी घटनाएँ पाकिस्तान सहित उन देशों में सुनते आये है जहाँ ईशनिंदा कानून है ! ईशनिंदा मतलब "आप सेक्युलर हो, लिबरल हो, नास्तिक हो तो आप सामाजिक अपराधी हो!" और भीड़ आपको मार दे तो उस पर कोई आरोप तक तय नहीं होगा क्योंकि आप खुद धर्म के अपराधी हो और धर्म की रक्षार्थ भीड़ ने ये कदम उठाया !

और भारत में ये ईशनिंदा कानून न भाजपा की सरकार ला रही है न शिवसेना और न ही ओवेसी की पार्टी ! भारत में ये काला और खूनी कानून लेकर आरही है परम सेक्युलर कॉंग्रेस पार्टी !

सत्ता के वियोग में कांग्रेस ऐसी छटपटा रही है की सांस भी नही ले पा रही ! कॉंग्रेस को अलग समझने की भूल करना बेमानी ही है, NRC हो या आधार या फिर संघ को पालना पोषना हो या ईशनिंदा कानून, हमेशा कांग्रेस जहर के बीज बोती है और फिर BJP उसको खाद पानी देकर बड़ा करती है !

कांग्रेस सरकार ने ही गौ रक्षा क़ानून बनाये, भाजपा आज उनके सहारे भीड़ द्वारा हत्या और समाज में ज़हर भरने का काम कर रही है !

अब न हुस्त्र और PK जैसी फिल्में बनेंगी और न हरिशंकर परसाई जैसे लेखक "एक गौ भक्त से मुलाकात" जैसे व्यंग्य लिख पायेंगे ! इस खूनी कानून के बाद न जाने कितने ही पानेसर, डाभोलकर, कलिबुर्गी, गौरी लंकेश मारे जायेंगे और एक स्नढ्ढक्रतक दर्ज नहीं हो पायेगी !

दुनिया का सबसे बड़ा बेहूदा कानून है "ईशनिंदा कानून" और इससे भी अधिक बेहूदा और जाहिल लोग हैं इसे बनाने वाले !

- गिरिराज वैद